र्तीय
स्कृति

ध
हस्य

प्र
सुषमा पुस्त
दिल्ल

मूल्य ८ रु

भारतीय संस्कृति
के
विविध परिदृश्य

वृन्दावनदास

सुषमा पुस्तकालय, दिल

रतीय
स्कृति

भारतीय संस्कृति के विविध परिदृश्य

(निबन्ध निचय)

वृन्दावनदास

*

संस्करण : प्रथम अगस्त, १९६८

*

मूल्य : दस रुपये

*

सज्जा : रहमान

*

प्रकाशन : सुषमा पुस्तकालय, कृष्णा नगर, दिल्ली-३१

मुद्रक : ऑटोमेटिक प्रिंटिंग प्रेस, मथुरा.

भूमिका

बाबू वृन्दावन दास मेरे लिए अग्रज हैं। इनके छोटे भाई श्री कुंज लाल मेरे सहपाठी थे—कालेज में, आगरा कालेज में। बाबू वृन्दावन दास जी भी आगरा कालेज के ही विद्यार्थी हैं। मैंने आगरा कालेज में ही इनके प्रथम दर्शन किये थे, संभवतः तब आप कानून की कक्षा में पढ़ रहे थे।

अब यह कुछ अद्भुत लगता है कि मैं आपकी इस पुस्तक के लिए कोई भूमिका लिखूं। पर अग्रज का आदेश टाला भी तो नहीं जा सकता, और विशेषतः तब जब अग्रज इन शब्दों में आदेश दे रहा हो—"मेरी पुस्तक की भूमिका तो आपको लिखनी ही है। मैं अग्रज और आप अनुज सही....." (७-८-१९६८ के पत्र से)

बाबू वृन्दावनदास जी को मूलतः मैं लेखक मानता हूँ—अध्ययनशील लेखक। लेखक में अभिव्यक्ति-निमित्त एक ऐसी ही विकलता रहती है, जैसी सर्जक में या कलाकार में होती है। अभिव्यक्ति के लिए यह छटपटाहट माध्यम ढूँढती रहती है। पहले इनकी अभिव्यक्ति ने ऐतिहासिक निबंध का रूप लिया था। नागरी प्रचारिणी पत्रिका में इनका 'कौटिल्यकाल के गुप्तचर' शीर्षक निबन्ध १९३३ में प्रकाशित हुआ था और तभी मैंने उसे पढ़ा था। उसी समय से मेरे मन में ये लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हो गये थे। अभिव्यक्ति की छटपटाहट इन्हें अन्य क्षेत्रों की ओर

भी घसीट ले गयी—ये समाज सेवा के व्रती बने। दूसरी बार मैंने जब इनके दर्शन किये थे तब ये मथुरा के चम्पा अग्रवाल कालेज की प्रबन्ध समिति के सहायक मंत्री थे—सेठ गिर्राजधरन जी मन्त्री थे : मैं इनके घर पर चम्पा अग्रवाल संस्था में अध्यापकी के निमित्त इनके समक्ष साक्षात्कार या इण्टरव्यू देने गया था। अपनी अग्रवाल-समाज की सेवा में रहते-रहते ये मथुरा की नगर-पालिका के अध्यक्ष भी हो गये थे और आगरा यूनिवर्सिटी की सीनेट के सदस्य भी चुने गये थे। इन सब बातों का उल्लेख मैं यही बताने के लिए कर रहा हूँ कि बाबूजी में अभिव्यक्ति के लिए जो छटपटाहट थी वह अपनी मूल लीक से च्युत होकर समाज और नगर सेवा की ओर झुक गयी—यों इनका लेखक भी जब तब तड़प उठता था। इसी कारण ये समय-समय पर अधिकांशतः सामयिक विषयों पर अपने विचारों को लिपिबद्ध करते रहे, पर यह कर्म सेवा क्षेत्र की अभिव्यक्ति के कारण गौण हो चला था। यहाँ तक कि इनकी भटकी हुई अभिव्यक्ति-इच्छा ब्रज—साहित्य मंडल में जा टकरायी और यहाँ सोनेमें सुगंध की भाँति अभिव्यक्ति के दोनों रूप गौण अर्थात् सामाजिक या नागरिक सेवा एवं मूल अर्थात् साहित्यिक अभिव्यक्ति-एकमेक होगये। इन्होंने ब्रज-साहित्य मंडल की सेवा का व्रत लिया, ब्रज भारती के संपादन को हाथ में लिया—तो लेखक पुनः जग पड़ा। ब्रज भारती ने इन्हें विशेषतः विवश किया कि ये कुछ लिखें।

हम देखते हैं कि इन्होंने इधर कई निबंध लिखे हैं, उधर ये ब्रज-साहित्य मंडल की व्यवस्था का भी दायित्व सँभाले

हुए हैं। निश्चय ही कुछ और नागरिक दायित्व भी इनके कंधों पर होंगे। फिर भी इनका लेखक अब जग पड़ा है। इस निबंध संग्रह में इनके पुराने निबंध भी हैं और नये भी हैं।

इस संग्रह में तीन प्रकार के निबंध हैं, १ सांस्कृतिक साहित्यिक २ ऐतिहासिक तथा ३ सामाजिक, समसामयिक। अधिकाश निबंध छोटे हैं। इनमें संक्षेप में ही आपने मूल समस्या को उभार कर रख दिया है।

बड़े निबंधों में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' उल्लेखनीय है। इन निबंधों से स्पष्ट विदित होता है कि बाबूजी धर्म, संस्कृति, इतिहास और साहित्य सभी के समान रूप से अनुसंधाता और जागरूक व्याख्याकार हैं।

उधर सामाजिक निबंधों में आपके विचारों की प्रगतिशीलता पाठक को प्रभावित करती है। यह प्रगतिशीलता स्वस्थ और न्याय्य भावभूमि पर खड़ी हुई है। यही नहीं, उनका निरूपण यथार्थ के आधार पर हुआ है। उनका आग्रह यही रहा है कि नग्न सत्य की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। अपने समाज में जहाँ-जहाँ भी विकृतियाँ हैं, वहाँ-वहाँ उनकी पैनी दृष्टि गयी है और विकृत नग्न सत्य को प्रस्तुत करते हुए उस पर अपनी तरह से विचार किया है। जहाँ आवश्यकता हुई है, वहाँ प्रमाण भी दिये हैं। उन्होंने अपने निबधों की सामग्री संस्कृत से भी ली है और अंग्रेजी से भी।

इस पुस्तक में देश की चर्चा ही नहीं है, विदेशों की भी है, वहाँ के महा पुरुषों की और रीतिरिवाजों की भी। कू-क्लक्स-क्लान के आततायी कृत्यों पर आप आज से ३८ वर्ष पूर्व ही जून १९३० की 'सुधा' में प्रकाश डाल चुके थे।

इस प्रकार यह पुस्तक बाबू जी के निबन्धों का संग्रह तो है, और इससे हम उनके अध्ययन-मनन के क्षेत्रों से तो परिचित हो ही सकते हैं, पर इसमें हमें देश-विदेश की सतरंगी झांकी भी मिल जाती है, जिससे यह पुस्तक रोचक होगयी है।

इसमें एक निबन्ध में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के पत्रों का भी उल्लेख हुआ है। इसमें कोई सदेह नही कि चतुर्वेदी जी हमारे युग के सबसे बड़े पत्र-लेखक हैं। वे पत्रकारिता के तो आचार्य हैं ही, पत्र-लेखन में कलात्मकता का स्तर लाने में वे परमाचार्य हैं। चतुर्वेदी जी के पत्र पढ़ते-पढ़ते उनकी लेखनी को चूम लेने का मन करता है। इस पुस्तक में उनके पत्रों का उल्लेख कर बाबू जी ने सोने में सुगन्ध भी भर दी है, कम से कम मुझे तो ऐसा ही लगता है।

एक ऐसा भी निबन्ध है जिसमें एक विशेष लेखक के विषय में बाबू जी के संस्मरण गुँथे हुए हैं—इससे इनकी गुण-ग्राहकता तो प्रकट होती ही है, साथ ही संस्मरण-शैली का इनका अपना रूप भी उभरता है। व्यक्तिगत सम्बन्धों और सम्पर्कों को भी आप कुशलता पूर्वक प्रस्तुत कर सकते है, इसमें कोई संदेह नहीं।

सबसे ऊपर इन निबन्धों में जो बात मुझे आकर्षित करती है वह है उनकी सौम्यता। सौम्यता को निबन्धों में गुण माना जाय

या नहीं, यह आलोचक के लिए तो समस्या हो सकती है पर पाठक को तो मेरी समझ में यह गुण ही प्रतीत होगा, क्योंकि तब वह बिना प्रवल वेगावेगों में बहे, निबन्ध को हृदयंगम कर सकेगा। सौम्यता बाबू जी के व्यक्तित्व का भी अंग है। कुछ ठिगनी काया, जो स्थूलता का भी आभास देती है, विधाता के उनुद्वेग की सूचना देती है, उस पर किंचित मृदु से कुछ कम मृदु मुस्कान युक्त सौम्य मुख, समस्त व्यक्तित्व को सौम्यता प्रदान कर देता है। मुझे ऐसा ही प्रतीत होता है—यों, हो सकता है, "जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।" के अनुसार किसी को कोई और प्रतीति भी हो. यही सौम्यता इन निबंधों में भी मुझे दीखती है और मुझे प्रभावित भी करती है। विषय के निरूपण में ही सामान्यत. निरुद्वेग शैली नहीं है, भाषा भी सधी हुई सौम्य है।

बाबूजी ने अपने लेखों का यह संग्रह प्रकाशित करके हमारे मन को प्रसन्न कर दिया है। अनेकों ने आग्रह करके बाबूजी को यह संग्रह प्रकाशित करने के लिए बाध्य कर दिया—उन अनेकों ने वही आग्रह किया जो मैं करता। सभी जानते हैं कि बाबूजी स्वयं एक बड़े प्रेस के मालिक हैं, जो चाहते उसे छपवा सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। यह संग्रह, पुराने और नये निबन्धों का यह संग्रह आज ही छपवाया है। अत: यह स्पष्ट है कि अपनी इस पुस्तक के प्रकाशन से उन्होंने अपने परिकर की प्रसन्नता को ही ध्यान में रखा है।

मै बाबूजी के इस प्रयत्न का आदर करता हूँ और श्लाघा भी करता हूँ ।

राजस्थान विश्वविद्यालय, — (डा०) सत्येन्द्र

जयपुर.

१५.६.१६६८

श्री वृन्दावनदास जी

"ब्रज साहित्य मंडल के लिये अब जमीन के मिलने में क्या देर है ?"

यह सवाल मैं बन्धुवर वृन्दावन दास जी से पूछ बैठा। मंडल के जन्म से ही उससे मेरा जो सम्बन्ध रहा है उसके कारण मेरा चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। स्वयं श्रद्धेय राजा महेन्द्र प्रताप ने मुझे वह कोठी दिखलाई थी, जहाँ उनके पूज्य पिता जी का स्वर्गवास हुआ था, और मैं यह आशा रखता था कि मंडल द्वारा उस पवित्र स्थल का शीघ्र ही सदुपयोग होगा।

भाई वृन्दावन दास जी मेरी भावना को ताड़ गये और उन्होंने विस्तार से सारी कथा सुनादी। ज्यों-ज्यों मैं सुनता गया मेरे हृदय में उनकी दृढ़ता, परिश्रम-शीलता तथा लगन के प्रति श्रद्धा बढ़ती ही गई और जब उन्होंने वृत्तान्त समाप्त किया तो मैंने केवल इतना ही कहा:—

"आपने तो मंडल के निर्जीव केस में जान ही डालदी। उसे पुनर्जीवित कर दिया, नहीं तो वह कभी का खतम हो चुका था।"

बात दरअसल यह हुई है कि भूमि के अधिग्रहण की प्रक्रिया में अधिकारों का दुरुपयोग किया गया है और स्वार्थी लोगों ने संस्थाओं की आड़ में दूसरों की सम्पत्तियाँ हड़प ली है। इस कारण सरकार ने सन् १९६३ से अधिग्रहण का तरीका इतना

कठिन बना दिया है कि किसी जमीन का प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो गया है। इसी कारण व्रज-साहित्य मंडल को भूमि नहीं मिल सकी थी। मंडल का केस फाइल हो चुका था और दो वर्ष के परिश्रम के बाद भी खारिज होगया था। पर वृन्दावन दास जी निराश नहीं हुए और निरन्तर प्रयत्न के बाद उन्होंने सफलता प्राप्त कर ही ली।

यदि वे असफल भी होते तो भी मैं उसे शानदार असफलता ही मानता ! "कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" यह उक्ति किसी व्रजवासी की ही थी। यद्यपि साहित्य क्षेत्र में वृन्दावन दास जी ३५–४० वर्ष से कुछ न कुछ काम करते ही रहे हैं, पर बहुधंधी होने के कारण उनका बहुमूल्य समय अनेक क्षेत्रों में व्यय होता रहा है, पर पिछले पाँच वर्षों में तो उनकी सम्पूर्ण शक्ति व्रज-साहित्य मंडल को ही समर्पित रही है।

यहाँ मैं अपनी एक भूल स्वीकार कर लूँ। जब गाजियाबाद में व्रज-साहित्य मंडल का अधिवेशन हुआ था और श्री वृन्दावनदास जी उसके सभापति बने थे, मैं वहाँ जान बूझ कर नहीं गया, यद्यपि दिल्ली से वहाँ पहुँचना बहुत आसान था। सभापति महोदय से मैं बिल्कुल परिचित न था और मैंने यह अनुमान लगा लिया था कि वे कोई महत्वाकांक्षी पदलोलुप वकील मात्र होंगे। आगे चल कर मेरी यह धारणा कितनी निराधार तथा भ्रमात्मक सिद्ध हुई यह बतलाने की जरूरत नहीं। मेरी गलतफहमी का मुख्य कारण यही था कि मैं पिछले पचास वर्षों से व्रजभूमि से प्रायः दूर ही रहा था। इस कारण यहाँ के नवीन कार्यकर्ताओं से

निकट सम्पर्क स्थापित नहीं कर सका था। अपनी भूल के लिये मैं अब लज्जित हूँ।

श्री वृन्दावनदास जी को मंडल के लिये नित्य प्रति दस दस बारह बारह घंटे खर्च करने पड़ते हैं और कोई वैतनिक सहकारी भी इतना परिश्रम न कर पाता।

जब १९६३ में मण्डल का सभापतित्व उनके हाथ में आया उस समय व्रजभारती बन्द पड़ी हुई थी। वृन्दावनदास जी ने अपने मंत्रिमण्डल के सदस्यों से कहा कि व्रजभारती को वे उन्हें सौंपदें तो वे उसकी सम्पादकीय तथा आर्थिक व्यवस्था खुद कर लेंगे। उनके साथी राजी हो गये। वृन्दावन दास जी ने बड़ी निष्ठा के साथ अपने वचन को निभाया है और तब से व्रजभारती बराबर वक्त पर ही निकल रही है। मेरा अनुमान है कि अवश्य ही इस प्रयोग में श्री वृन्दावन दास जी को कुछ घाटा सहना पड़ता होगा। आज के युग में जब हमारे साहित्यिक नेता अपनी जेब को कस कर पकड़े रहते हैं और सांस्कृतिक कार्यों के लिये एक कानी कौड़ी भी खर्च नहीं करना चाहते, वृन्दावन दास जी का दृष्टान्त सर्वथा दुर्लभ होगया है! यद्यपि वृन्दावन दास जी साठ के आस-पास पहुँच चुके हैं, तथापि उनमें युवकों जैसा उत्साह पाया जाता है। साथ ही उनमें दो अत्यन्त दुर्लभ गुण भी हैं—एक तो शिष्यत्व की भावना, दूसरा प्रत्येक काम को वक्त पर निपटाना। सम्पर्क स्थापित करने के लिए मैंने उन्हें दो पते बतला दिये थे, दिल्ली के श्री वीरेन्द्र त्रिपाठी का और वसई-ताजगंज के श्री देवी प्रसाद शर्मा दिव्यजी का। वृन्दावनदासजी दोनों के घर जाकर

उनसे मिले। उसके बाद तो मेरे अनुरोध पर उन्होंने बीसियों पत्र लिखे होंगे। अंग्रेजी में एक कहावत है Best is the enemy of good यानी सर्वोत्तम करने की धुन में हम अच्छा भी नहीं कर पाते—सर्वोत्तम उत्तम का शत्रु होता है। वृन्दावन दास जी अपने साथी संगियों की सीमाओं से परिचित हैं और वे अपनी परिमित शक्ति से भी, इसलिये वे समझौते की नीति से काम लेते हुए आगे बढ़ने में विश्वास रखते हैं। किसी से भी झगड़ा मोल लेकर वे अपने समय तथा शक्ति को नष्ट नही करना चाहते। उनकी लोक प्रियता का यह भी एक कारण है।

पर इसके मानी यह नही है कि उनके कोई आलोचक नही या उनसे कोई ईर्ष्या नहीं करता। मैंने अपने एक लेख में भाई जवाहरलालजी चतुर्वेदी तथा बन्धुवर मीतल जी के साथ उनका नाम भी जोड़ दिया था। इस पर हमारे एक सजातीय बन्धु ने हमें अच्छी खासी डाट बतादी और हम पर गुट बन्दी का आरोप भी लगा दिया। यहाँ हम विनम्रतापूर्वक निवेदन कर देना चाहते है कि श्री जवाहरलाल जी तो हमारे अग्रज है और मीतल जी तथा वृन्दावन दास जी यजमान ! पर ये दोनों सांस्कृतिक अर्थ मे यजमान है, जिसमें आचार्य वासुदेवशरणजी थे, जिन्होंने जनपदीय 'यज्ञ' किया था। पर हम व्रज के तथाकथित छोटे से छोटे कार्य-कर्ता की उपेक्षा कदापि नहीं करना चाहते। स्वयं हमारे पूज्य पिताजी का जन्म सन् १८५२ में आज से ११६ वर्ष पूर्व मथुरा के चूना कंकड़ मुहल्ले में हुआ था और उन्होंने औसतन १० दस रुपये मासिक वेतन पर ५५ वर्ष मुदर्रिसी की थी, इसलिये छोटे बडे कार्यकर्ताओं में भेद करना मेरे स्वभाव तथा परम्परा दोनों के ही विरुद्ध है। उसकी कल्पना भी मेरे दिमाग में नहीं आ सकती।

ब्रजमंडल का भविष्य

सन् १९२७ की बात है। आचार्य गिडवानी जी की कृपा से मेरा परिचय स्व. द्वारकानाथ जी भार्गव से होगया था। वे एक आदर्शवादी व्यक्ति थे और ब्रज के सांस्कृतिक भविष्य के लिये चिन्तित भी। एक दिन उन्होंने मुझसे पूछा "क्या कारण है कि काशी नगरी इतनी उन्नति कर गई, जब कि मथुरा पिछड़ गई, यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से दोनों का महत्त्व बराबर ही है?"

मैंने निवेदन किया कि काशी को महामना मालवीय जी, तथा डाक्टर भगवान दास जैसे महापुरुषों की सेवाओं का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जब कि मथुरा को उस कोटि के व्यक्ति नहीं मिले। यद्यपि भार्गव जी ने मथुरा के लिये यथाशक्ति कार्य किया तथापि उनका प्रश्न आज भी ज्यों का त्यों हमारे सामने मौजूद है।

महापुरुषों के आने में तो पचासों वर्ष बीत जाते है और उनके लिये क्षेत्र तैयार करना पड़ता है। जब ब्रज मंडल के सैकड़ों कार्यकर्ता भिन्न भिन्न क्षेत्रों में अपने अपने उद्देश्यों के लिये जीवन खपा देंगे तो यहाँ भी कोई न कोई महापुरुष उत्पन्न हो जायगा, जो हम लोगों के स्वप्नों को पूरा करेगा।

साहित्यिक रुचि

वृन्दावन दास जी अपने को कोई महान कार्यकर्ता नहीं मानते और न प्रतिभाशाली साहित्यिक ही। वैसे अपनी योग्यतानुसार निरन्तर परिश्रम करते रहे हैं और प्राचीन इतिहास के बारे में तो उनकी अच्छी गति भी है। खेद है कि उस विषय में कोरमकोर

होने के कारण मैं उनकी योग्यता का मूल्यांकन करने में सर्वथा असमर्थ हूँ।

मेरा दृष्टिकोण

अन्त में मैं अपने दृष्टिकोण की बात भी निवेदन कर दूँ। विद्वानों तथा अन्वेषण-कर्ताओं के प्रति मेरे हृदय में यथेष्ट सम्मान है। फिर भी इस समय ब्रजमंडल को जितनी आवश्यकता सुयोग्य संयोजकों की है, उतनी विद्वानों की नहीं। ब्रज भूमि के अनेक क्षेत्रों में विशेषज्ञ भरे पड़े हैं पर उनको मिलाने वाला और उनसे काम लेने वाला कोई भी नहीं। "योजकस्तत्र दुर्लभ:"

हमें ऐसे व्यक्तित्वों की जरूरत है, जो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के सुयोग्य कार्यकर्ताओं का विश्वास तथा सहयोग प्राप्त कर सके और इस प्रकार ब्रज की सर्वाङ्गीण उन्नति के मार्ग को प्रशस्त कर सके। आज ब्रज के अनेक लेखक तथा कवि और कलाकार अपने मार्ग को अवरुद्ध पाते है। उन्हें कहीं से भी आश्रय नहीं मिलता। हमारे छुटभइयों को बड़े भाई की आवश्यकता है, जो सहृदयतापूर्वक उनकी बात को सुन सके, जिसके घर का द्वार उनके लिये खुला हुआ हो—घर का ही नहीं, हृदय का भी, और जिसका निवास स्थान ब्रज-संस्कृति का संग्रहालय ही बन जाय।

हम उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जब ब्रजभूमि में ऐसे सहृदय व्यक्ति उत्पन्न होंगे, जो अपना तन मन धन इस जनपद की उन्नति के लिये अर्पित कर सकें। आज तो अपनी टेबिल पर से रोटी या बिस्कुट के दो टुकड़े फैंक देने वाले ही पाये जाते हैं जो टरकाने की नीति में ही विश्वास रखते हैं और जो "हर्री

लगै न फिटकरी रंग चोखौई आवै" के सिद्धान्त पर अटल है अन्तर्जनपदीय कार्य के लिये भी कुशल संयोजकों की उतनी ही आवश्यकता है।

सत्यनारायण कविरत्न के श्राद्ध की अर्द्धशताब्दी पर मैंने लंका की रक्षा करने वाली उस राक्षसी का जिक्र किया था, जिसने हनुमान जी द्वारा यह पूछे जाने पर कि लंका कहाँ है, गर्वपूर्वक कहा था:—"अहं हि लंका नगरी, स्वयमेव प्लवंगम: हे बन्दर ! मैं स्वयं ही लंका हूँ"। जिस दिन कोई ब्रजवासी दृढ़तापूर्वक यह घोषित कर सकेगा कि मै ही ब्रज हूँ, उसी दिन ब्रज के नवीन अभ्युदय का युग प्रारम्भ होजायगा।

वृन्दावनदास और बनारसीदास जैसे साधारण कार्यकर्ताओं की इससे बढ़कर कोई आकांक्षा हो ही नहीं सकती कि वे उस भावी युग के विनम्र सेवक बनें।

वृन्दावनदास जी ने जो कुछ किया खूब किया, भरपेट किया। मथुरा की नगर पालिका के वे लगातार १८ वर्ष तक सदस्य रहे। काम खूब रुचि और लगन से किया। नगरपालिका पर छाये रहे। पाँच सात वर्ष सदस्य रहने के बाद ही सदस्यगण उन्हें अध्यक्ष बनाने की बात सोचने लगे। आखिर अध्यक्ष भी निर्वाचित हो ही गये। बड़ी महनत से काम किया, अनेक नई योजनाओं को कार्यान्वित किया। सदस्य भी खुश थे और जनता भी। अब जब वे उस पद पर नहीं हैं तो लोग उन्हें याद करते हैं और कहते हैं कि उनका जमाना अच्छा था, वे खूब घूमते थे और हरेक की सुनते थे। यहाँ तक कि नगर पालिका के कर्मचारी भी उनके गीत गाते हैं।

बा० वृन्दावनदास की साहित्यिकता हिन्दी तक ही सीमित न थी। उन्होंने अंग्रेजी में अगणित लेख लिख लिखकर जनता की शिकायतों की ओर अधिकारियों का ध्यान आकर्षित किया। अंग्रेजी के अनेक दैनिक पत्रों में राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षणिक समस्याओं पर भी अपने विचार व्यक्त किये।

सहकारिता के क्षेत्र में भी वृन्दावनदास जी का योगदान महत्वपूर्ण था। वे जिले, प्रादेशिक एवं केन्द्रीय तीनों स्तरों की संस्थाओं के निरन्तर संचालक रहे। सहकारिता पर भी लिखे हुए उनके अगणित लेखों, वक्तव्यों और भाषणों ने सहकारी क्षेत्रों में अच्छी धाक जमा दी थी। उनकी संपर्कशीलता तथा उनके इस क्षेत्र के विशाल अनुभव के कारण ही वे बड़ी सुगमता से शीघ्र संस्थाओं के संचालक चुन लिये जाते थे। सहकारिता के क्षेत्र में वे आज तक सक्रिय हैं और कई संस्थाओं के आज भी संचालक हैं।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

अपनी बात

मैं हिन्दी में ३५, ४० वर्षों से कुछ न कुछ लिखता रहा हूँ। मेरे लेख हिन्दी की सभी महत्वपूर्ण मासिक पत्रिकाओं में तो निकले ही हैं साप्ताहिक और दैनिक पत्रों और विशेषांको में भी निकले हैं। कुछ लेख नागरी प्रचारिणी जैसी शोध पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हो चुके हैं।

मेरे अनेक मित्रों की सलाह थी कि इतने लम्बे अर्से पर फैले हुए इस साहित्य को इकट्ठा करके यदि पुस्तकाबद्ध कर दिया जाय तो उसकी उपयोगिता बढ़ेगी। मुझे उनकी यह सलाह बहुत अच्छी लगी। अपने परम आदरणीय गुरुतुल्य मित्र श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी को पत्र लिखकर मैंने उनसे उनका मत जानना चाहा। उन्होंने भी यही लिखा कि उत्कृष्ट लेखों के संग्रह को छपा देना ही उचित है।

मै प्राचीन भारतीय संस्कृति का उपासक हूँ। उसकी महानता और उसके अपूर्व सौन्दर्य के प्रति सदैव मे नतमस्तक हूँ। आज की पीढ़ी की उसके अध्ययन के प्रति उदासीनता देखकर मुझे मानसिक वेदना होती है। मैं यह तो नही कहता कि उनकी यह उपेक्षा इरादतन है, हो सकता है किन्हीं अंशों में अवसर और साधनों का अभाव हो। अपने निजी अध्ययन के आधार पर मुख्यरूप से उसी विषय पर श्रद्धावश मैंने कुछ लिखा है, वैसे मैंने अपनी लेखनी को किन्हीं विशेष सीमाओं में आबद्ध कभी नहीं किया है। जो बात ध्यान में आगई उस पर कलम चला दी है।

जिन पत्रिकाओं आदि में मेरे लेख निकले हैं, उनका मैं संग्रह करता रहा हूँ। एक दिन मैंने वही ढेर अपने प्रतिभाशाली

नवयुवक मित्र और हिन्दी के उदीयमान लेखक श्री राजेन्द्र रंजन के आगे रख दिया और उनसे कहा कि उसमें से मेरे लेखों का चयन करके जिस प्रकार वे चाहें उनका वर्गीकरण कर दें। उन्होंने यह काम बड़े श्रम और मनोयोग से कर दिया। अपनी कृति को वे हिन्दी के आचार्य श्री जयकुमार मुद्गल के पास भी यह जानने के लिए ले गये कि जो कुछ उन्होंने किया है उससे वे कहाँ तक सहमत है। श्री मुद्गल ने कुछ छुटपुट संशोधनों के साथ रंजनजी के मूल वर्गीकरण पर अपनी सहमति प्रगट कर दी। मैं रंजन जी और मुद्गलजी का उनके परिश्रम के लिए बहुत अनुग्रहीत हूं। मुद्गल जी का मत तो यह हुआ कि प्रस्तुत लेख संग्रह किन्ही अंशों में साहित्य और संस्कृति के सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में उपयोगी सिद्ध होगा।

डा० सत्येन्द्र मेरे छोटे भाई के मित्र एवं सहपाठी रहे है। इस दृष्टि से मुझे वे अपना बड़ा भाई मानते हैं। जब मैंने उनसे पुस्तक की भूमिका लिखने की प्रार्थना की तो उन्होंने लिखा कि मुझमें मना करने का साहस तो नही है परन्तु बड़े भाई की पुस्तक की भूमिका छोटा भाई लिखे यह कुछ अद्भुत सा है। उन्होंने मुझसे यह भी पूछा कि उनकी यह प्रतिक्रिया मुझे न्याय संगत प्रतीत होती है या नही। मैंने उनको लिख दिया कि मैं अग्रज और वे अनुज सही परन्तु उनके अगाध ज्ञान और प्रकाण्ड पांडित्य का श्रेय तो उन्हे प्राप्त है ही। मैंने उनको लिखा कि सम्राट परीक्षित की सभा मे शुकदेवजी के आगमन पर उनके सम्मान में पराशर प्रभृति महर्षियो

का उठ खड़ा होना भारतीय सस्कृति का एक मनोरम चित्र है जो सदैव मेरे सामने रहता है। डा० सत्येन्द्र ने मेरे पत्रका उत्तर अपनी सुन्दर एवं विद्वत्तापूर्ण भूमिका भेजकर ही दिया।

डा० सत्येन्द्र ने भूमिका में वर्ण्य विषय पर अच्छा खासा प्रकाशडाला है। मेरे उनके पूरी एक पीढ़ी के सम्बन्ध हैं, वे मेरी रग रग से परिचित हैं। यही कारण है कि उनके द्वारा लिखित भूमिका इतनी सरस, स्नेहाभिसिक्त, सहृदयतापूर्ण एवं भव्य बन पड़ी है। वे अनेक विषयों के अधिकारी विद्वान् है, मैंने उनसे भूमिका लिखा कर उनकी विद्वत्ता का लाभ उठाया है। भूमिका के लिए मै डा० सत्येन्द्रजी का बहुत अनुग्रहीत हूँ।

पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी से मैंने पुस्तक के लिए दो शब्द लिखने की प्रार्थना की थी। उन्होंने अपने लेख में मेरे प्रति जो भाव प्रकट किये हैं वे मेरे लिए एक महान वरदान के रूप मे आशीर्वचन हैं। श्रद्धेय चतुर्वेदी जी की मेरे ऊपर महान कृपा है। मै उनका अत्यधिक आभारी हूँ। ब्रज-साहित्य मण्डल तथा हिन्दी के सेवा-कार्य में मुझे उनसे सतत प्रेरणा प्राप्त हुई है। मेरे पास उनके प्रति आभार प्रकट करने को शब्द नही हैं।

मैंने प्राचीन भारत या यों कहिये भारतीय हिन्दू शासन के इतिहास पर कुछ स्फुट लेख लिखे हैं जो ब्रज भारती तथा अन्य कई पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हो चुके हैं। उन लेखों का समावेश प्रस्तुत संग्रह में नहीं किया गया है। उनको क्रमबद्ध करके एक

इतिहास ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित करने की मेरी अभिलाषा है। अभी उसमें कुछ काम बाकी है।

पुस्तक के नामकरण तथा उसके सुन्दर आवरण के लिए मैं पुस्तक के प्रकाशक और सुषमा पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री देवेन्द्र कुमार को धन्यवाद देता हूँ।

मथुरा — वृन्दावन दास
१५-६-१९६८

अनुक्रम

सांस्कृतिक

साहित्यिक

ऐतिहासिक (अतीत गौरव)

सामाजिक

विविध

पथचिह्न

शान्तिप्रिय द्विवेदी

सांस्कृतिक

भारतीय जीवन की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि

भारतीय जीवन का अतीत से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। भारतीय जीवन पर सदा से ही सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि का पुष्कल प्रभाव है। यह पृष्ठ भूमि दर्शन, परम्परा, इतिहास–पुराण और दन्तकथा आदि का एक विचित्र सम्मिश्रण है। पृष्ठ भूमि के इन विभिन्न अङ्गों के बीच कोई रेखा खींचना सम्भव नहीं है। नितान्त मूर्ख और अशिक्षित भी इससे प्रभावित हैं। भारत के प्राचीन धर्म ग्रन्थ रामायण, महाभारत आदि का जन समूह पर बड़ा व्यापक प्रभाव है। उनमें वर्णित प्रत्येक कथा का सार और उसका नैतिक परिणाम प्रत्येक भारतवासी के हृदय पटल पर अंकित है। अशिक्षित ग्रामीण जनों को सैकड़ों छन्द, दोहे, चौपाई कण्ठस्थ हैं और जब वे परस्पर वार्तालाप करते हैं तो उन कथाओं से सैकड़ों उद्धरण प्रस्तुत करते है। उनकी दृष्टि में प्रत्येक वाक्य तथा कथा का कोई सार है जिसका कि उनको गर्व है और जो हमारी परम्पराओं के अनुकूल है। एक शिक्षित व्यक्ति के मस्तिष्क में तर्कयुक्त आधारों और ऐतिहासिक तथ्यों का चित्र रहता है। ग्रामीण अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित मनुष्यों के हृदय पटल पर पुराणों और दन्तकथाओं के नायक, नायिकाओं की वीरता, सचाई और सदाशयता आदि का चित्र अंकित रहता है।

भारतीय दर्शन की परम्परा आत्मसात करने की है। प्रत्येक विदेशी आक्रमण भारतीय संस्कृति के लिए एक चुनौती था, परन्तु उसने इस चुनौती को अपने सम्पर्क से स्वीकार किया। टाड साहब का कथन है कि भारतीय दर्शन सदैव बाहर से आये तत्वों से सम्पर्क

स्थापित करने को उद्यत रहता है। इस सम्मिश्रण में एक नया जीवन उत्पन्न होता है।

यद्यपि ऋग्वेद प्राचीन ग्रन्थ है, उसमें हम बौद्धिक विकास का चरमोत्कर्ष देखते हैं। परन्तु ऋग्वेद से भी पहले कुछ सभ्यताएं अपने उत्कर्ष पर पहुँच चुकी होंगी जो प्राचीन आर्य संस्कृतियों से बच निकलीं या अछूती रहीं। हो सकता है उसका और भी निखार और विकास हुआ हो परन्तु बाद के सब थपेड़ों को झेलना और उत्तरोत्तर विकसित होना उसकी आन्तरिक शक्ति का द्योतक है। इसके चार-पाँच हजार या इससे भी अधिक वर्षों के निरन्तर विकास की ओर लक्ष्य करके प्रसिद्ध प्राच्य विद्वान् एवं विचारक मैक्समूलर लिखते हैं, "अर्वाचीन हिन्दू विचारधारा का सम्बन्ध प्राचीन विचारधारा से तीन हजार वर्ष पुराना है।" उन्होंने सन् १८८२ ई० में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में दिये हुए अपने भाषण में कहा था—

"प्रकृति की निधि, शक्ति और सौन्दर्य से युक्त यदि विश्व में हम किसी देश को ढूढें तो वह पृथ्वी पर स्वर्ग के रूप में निस्सन्देह भारत है। अगर मुझसे पूछा जाय कि किस देश के आकाश के नीचे मानवीय मस्तिष्क का अनुपम विकास हुआ है, जीवन की महानतम समस्याओं पर सर्वाधिक विचार और मनन हुआ है और उनका हल भी निकला है तो मैं कहूँगा कि वह भारत है। यदि मुझसे फिर पूछा जाय कि हम लोग जो यूनानी, रोमन या यहूदी सभ्यताओं से उत्पन्न हैं, यदि अपने जीवन को अधिक मानवोचित, पूर्ण और शाश्वत बनाने की ओर कहीं से प्रेरणा ग्रहण करें तो फिर मैं भारत को ही कहूँगा।"

प्रोफेसर मैकडानल ने अपने ग्रन्थ History of Sanskrit Literature (संस्कृत साहित्य का इतिहास) में लिखा है "भारतीय

साहित्य एवं संस्कृति का महत्व उनकी मौलिकता में है। जब यूनानियों ने ईसा से ४०० वर्ष पूर्व उत्तर पश्चिम में आक्रमण किये तब तक भारतीयों ने अपनी संस्कृति स्थिर कर ली थी। फारसी, यूनानी, सीथियन और मुसलमानों के एक के बाद दूसरे और निरन्तर आक्रमणों और विजयों के बावजूद भारतीय आर्यों के जीवन और साहित्य का विकास अप्रतिहत गति से चलता रहा। संसार की कोई और जाति इस प्रकार तीन चार हजार वर्ष तक निरन्तर धर्म, साहित्य और संस्कृत के विकास का दावा नहीं कर सकती।"

हमारा सांस्कृतिक पुनरुत्थान कैसे हो ?

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त जहाँ देश में आर्थिक समृद्धि की आवश्यकता है, वहाँ सांस्कृतिक उत्कर्ष की भी। समाज का सांस्कृतिक जागरण उसके बौद्धिक विकास पर निर्भर है। विद्योन्नति और सांस्कृतिक उत्थान की परस्पर मैत्री है।

देश की वास्तविक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ के निवासी राष्ट्रीयता के भावों से ओत-प्रोत हों। सच्ची राष्ट्रीयता प्राप्त करने के लिए हमें भावों में एकता लानी होगी। किसी भी देश के निवासी अपने धर्म, सभ्यता और संस्कृति के लिए समान भाव से गर्व कर सकते हैं। अपनी सभ्यता और संस्कृति के लिए हमारे भीतर गर्व होना हमारी स्फूर्ति का परिचायक है। इसी

स्फूर्ति पर सच्ची राष्ट्रीयता की नींव पड़ती है। यही स्फूर्ति एक देश के निवासियों को संगठित करती है तथा एकता के सूत्र में बाँधती है।

कांग्रेस ने देश को स्वतन्त्रता प्राप्त कराई है। उसका सर्वोच्च नेता भारतीय संस्कृति का प्रोज्वल प्रतीक था। कांग्रेस के बहुत से नेता भारत में सचमुच सांस्कृतिक पुनरुत्थान लाना चाहते हैं, वे हिन्दी के कट्टर पक्षपाती हैं, भारतीय आदर्शों को पुन. प्रसारित करना चाहते हैं। परन्तु कुछ नेता ऐसे भी हैं जिन्हें सांस्कृतिक चर्चा में साम्प्रदायिकता की दुर्गन्ध आती है। निश्चय ही ऐसे नेताओं की विचारधारा ने देश को वर्णनातीत हानि पहुँचाई है। लोगों मे जो भ्रष्टाचार, नैतिकपतन और अनुशासनहीनता प्रचलित है उसका बहुत कुछ दायित्व इस विचारधारा पर ही है।

अब प्रश्न यह है कि भारतवर्ष का सांस्कृतिक पुनरुत्थान किस प्रकार हो! इस दिशा में सर्वतोमुखी प्रयत्न की आवश्यकता है। निम्नलिखित उपाय एवं साधन विचारणीय हैं।

(१) सर्वप्रथम हमें संस्कृति के प्रति जो उपेक्षा के भाव हैं उन्हें दूर करना होगा। अपने अतीत के प्रति हमारी श्रद्धा होनी चाहिये।

(२) सच्ची राष्ट्रीयता का प्रसार करने के लिए देश में हिन्दी का अबाध प्रचार होना चाहिये। अपनी मातृभाषा को सुदृढ़ और सम्पन्न बनाने के लिये हमें संस्कृत की शरण लेनी पड़ेगी। जब तक विज्ञान और कला के विभिन्न अङ्ग, प्रत्यङ्ग अपनी भाषा द्वारा पूर्णरूपेण अभिव्यक्त न हो सकें तब तक वह अधूरी रहेगी और उसके द्वारा ज्ञानोपार्जन न हो सकेगा। हिन्दी को यह पूर्णता संस्कृत का आश्रय लेने से ही प्राप्त हो सकती है। संस्कृत समस्त

भारतीय भाषाओं की जननी है। संस्कृत हमारे धर्म, संस्कृति और सभ्यता की दर्पण सदृश है। संस्कृत के पठन-पाठन से ही हम अपने आपको समझेंगे और हमारे पूर्वज हमारे लिए क्या धरोहर छोड़ गये है, यह हमें संस्कृत के अध्ययन से ही ज्ञात होगा।

(३) हमारे वे सब धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थान जिन्हें पिछली शताब्दियों में बलात् धर्मान्धता का शिकार बनाया गया था, अब पुनः हमारे अपने होने चाहिए। यह आवश्यक है कि स्वतन्त्र भारत में हमारी भूतपूर्व दासता के ये चिह्न अब सदैव के लिए मिट जाँय। इन स्थानों के पुनरुद्धार से जाति एक अद्भुत आत्म-सम्मान एवं आत्म गौरव का अनुभव करेगी और उसमें अटूट बल का संचार होगा। धर्म निरपेक्ष राज्य का अर्थ धर्म-रहित अथवा धर्मविहीन राज्य से नही है। धर्म निरपेक्ष राज्य का यह भी अर्थ नही है कि बहुसंख्यक जाति के प्रति उदासीनता रक्खी जाय और शासन की ओर से कोई ऐसा कार्य ही न किया जाय जिससे उसकी उन्नति हो सके।

(४) समस्त भारतवर्ष में गोवध निषेध की मांग एक राष्ट्रीय माँग है। प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता श्री रफी अहमद किदवई ने ठीक ही कहा था कि प्रजातन्त्र राज्य में बहुसंख्यक समुदाय की मांग को नहीं ठुकराया जा सकता। गोवध निषेध एक राष्ट्रीय प्रश्न है, कारण इससे देश की ८० प्रतिशत जनता की भावनाओं का सम्बन्ध है। उन्होंने उपरोक्त कारणों को लेकर समस्त भारत में गोवध निषेध करने की राय दी थी। यदि हमें अपने देश की मानमर्यादा रखनी है और विश्ववन्द्य बापू के सत्य, अहिंसा के सिद्धान्तों का अनुसरण करना है तो इस समस्या का हल करना ही होगा। गोवध हमारी धार्मिक एवं सांस्कृतिक

भावनाओं को तो ठेस पहुँचाता ही है, इससे इस कृषि प्रधान देशको आर्थिक क्षति भी बहुत पहुँचती है। गोवध-निषेध एवं गोरक्षण से सचमुच इस देश में फिर से घी और दूध की नदियाँ बहने लग जायेगी यह निश्चय है।

(५) हमारी शिक्षा में भारी परिवर्तन होना आवश्यक है। वर्तमान पाठ्यक्रम में नैतिक शिक्षा को कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि हमारे विद्यार्थी भारतीय आदर्शों से बिल्कुल परे से प्रतीत होते हैं। अपने धर्म, संस्कृति और सभ्यता के प्रति उनमें आदर भाव की कमी है और अनुशासन-हीनता का साम्राज्य है। सिनेमा में प्रदर्शित प्रेम-लीला तथा पाश्चात्य ढंग पर किये हुए कौतूहल पूर्ण कार्यों का प्रतिबिंब उनके दैनिक जीवन में लक्षित होता है। समता के पाश्चात्य सिद्धान्त उनके मस्तिष्क पर इतने प्रबल रूप से अंकित हैं कि उन्हें अपने गुरु और साधारण मनुष्य में कोई भेद मालूम नहीं होता। वर्तमान पाठ्यक्रम में बहुत सी अनर्गल बातें भरी पड़ी हैं, उनको कम करके नैतिक एवं शास्त्रीय ज्ञान का समावेश अत्यन्त आवश्यक एवं वांछनीय है।

संस्कृति और साहित्य

प्रत्येक मनुष्य का संस्कृति एवं सभ्यता से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। जब तक नागरिकों में अपनी सभ्यता, संस्कृति और साहित्य के प्रति स्वाभिमान न होगा तब तक उनके देश में सच्ची राष्ट्रीयता स्थापित न हो सकेगी। हम एक स्वस्थ राष्ट्र के सदस्य तभी हो सकते हैं जब कि हममें से प्रत्येक अपनी संस्कृति को गौरव की वस्तु समझे।

स्वतंत्र नागरिक को सबसे बड़ी स्फूर्ति और प्रेरणा मिलती है उसके साहित्य से। स्वतन्त्र नागरिक के जितने दायित्व हैं उनमें सबसे बड़ा यह है कि वह अपने देश के साहित्य को पुष्पित और पल्लवित रखे। साहित्य सेवी राष्ट्र के सच्चे निर्माता हैं, जिस देश में उनका समुचित सम्मान होता है उस देश के निवासियों को जागरूक एवं सच्चे राष्ट्र-भक्त कहना चाहिये।

किसी देश के निवासियों को एक सूत्र में सगठित रखने के लिए उनकी समान भावनाएँ ही कारण रूप होती हैं। हमारी संस्कृति और सभ्यता ही ऐसी वस्तुएँ हैं जिन पर हम सबको समान भाव से गौरव हो सकता है। अतः देशवासियों को शक्तिशाली और संगठित बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी श्रद्धा और भक्ति अपनी संस्कृति और सभ्यता में निरन्तर बढ़ायी जाय। संस्कृति और सभ्यता की ओर लोगों के भावों को निर्बल करने का अर्थ है अपने राष्ट्र और देश को रसातल में पहुँचाना।

✓स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व साम्प्रदायिकता के पुजारियों को प्रसन्न रखने के लिए—जिससे कि राजनीतिक संग्राम में हमें उनका

सहयोग प्राप्त हो सके--हम सांस्कृतिक और साहित्यिक चर्चा विशेष रूप से करने से बचते थे, कारण साम्प्रदायिक लोग इससे रुष्ट होते थे। परन्तु नवीन परिस्थिति में अब ऐसा कोई कारण नहीं है। द्विराष्ट्रवादी साम्प्रदायिक लोग तो यह चाहते ही हैं कि हम गौरव-विहीन, लचर सरीखे मनुष्य रहे आवें जिससे कि वे हमारी कमजोरी का पूरा लाभ उठा सकें।

सांस्कृतिक और साहित्यिक कार्यक्रमों को साम्प्रदायिक बतला कर उनका विरोध करना राष्ट्र के प्रति शत्रुता करना है। ऐसी मनो-वृत्ति हमारे दास मानस की परिचायक है। साम्प्रदायिक तो वे लोग हैं जो अपने सम्प्रदाय अथवा जाति की संख्या के आधार पर अपने राजनीतिक अधिकार चाहते हैं। अपने लोगों में एकता और पारस्परिक प्रेम के भावों का संचार करने वालों को साम्प्रदायिक कहकर उन्हें बदनाम करना भूल है।

इस युग के लोग विश्व-वंद्य, साबरमती के संत को तथा उनके कार्यक्रम एवं उपदेशों को नहीं भूल सकते। महात्माजी को जो अपने नेतृत्व में आशातीत सफलता प्राप्त हुई उसका रहस्य यही था कि उनका रहन सहन, जीवन-चर्या, उपदेश और उनके सिद्धान्त एक दम भारतीय संस्कृति के अनुकूल थे।

संस्कृति और साहित्य राष्ट्र को धारण करने के लिए स्तम्भ स्वरूप हैं। हम सबका कर्तव्य है कि इनकी नींव को सुदृढ़ करें जिससे हमारे राष्ट्र को कोई क्षति न पहुँचे।

---

४. ईश्वर और उसकी उपासना

एक धार्मिक पुरुष परब्रह्म परमात्मा में तादात्म्य स्थापित करना चाहता है। वह उस ईश्वर से, उस परमात्मा से जिसकी कि उसकी आत्मा एक सूक्ष्मतम भाग है, जहाँ तक सम्भव हो सके एक सचेतन सम्बन्ध स्थिर करने की चिन्ता में रहता है। मनुष्य की इस आवश्यकता की पूर्ति उपासना के द्वारा होती है। जब तत्त्वदर्शी महर्षि वेदव्यास लोक कल्याण के लिये महाभारत और ब्रह्मसूत्रों की रचना कर चुके और उन्हें इस पर भी शान्ति-लाभ न हुआ तो देवर्षि नारद ने उन्हें ईश्वर का गुणानुवाद गान करने की सम्मति दी। उनके परामर्श के अनुसार व्यासजी ने श्रीमद्भागवत में ईश्वर का गुणगान किया और ऐसा करने से उन्होंने वह मानसिक शान्ति प्राप्त की जिसके लिये कि वे लालायित थे और जिसको अद्यावधि प्राप्त नहीं कर सके थे।

परमेश्वर के प्रति प्रेम की अभिव्यञ्जना को, सम्मान के प्रदर्शन को, उससे सम्मिलन की अभिलाषा प्रकट करने को, परमात्मा से आत्मा की एकता अनुभव करने को उपासना कहते हैं। उपासना के अनेकों रूप हैं। ईश्वर की पूर्णता के गुणानुवाद को, उसकी विशाल शक्तियों के स्मरण को, उसकी शक्तिशालिनी माया के अनुभव करने को, उसके दर्शनों की उत्कट लालसा को उपासना कह सकते हैं। उपासकों की मनोवृत्तियों अथवा उनकी बुद्धि के विकास के अनुसार विभिन्न प्रकार की उपासनाएं होती हैं। चाहे वह कृषक हो अथवा दर्शन-शास्त्र-विशारद, सबमें एक ही उत्कट इच्छा विद्यमान है और वह है ब्रह्म को प्राप्त करने की। विभिन्न

भिन्नव्यञ्जनताओं का कारण है मनुष्यों के मानसिक विचारों की और बुद्धि की विषमता। परन्तु लक्ष्य सबका एक ही है।

सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, अखिलेश की पूजा नहीं की जा सकती। कारण उसका कोई रूप नहीं है अत: अचिन्त्य है। किसी पदार्थ की उपासना के लिये उसके अस्तित्व की आवश्यकता है जिससे कि उस पर चित्त की वृत्तियाँ ठहर सकें और भाव-विकार उत्पन्न हो सकें। ईश्वर सगुण ब्रह्म के रूप में पूजा की वस्तु है जिस तक हमारी प्रार्थना एवं आराधना पहुँच सकती है और जिसका मनन भी किया जा सकता है। एक ही ईश्वर के अनेकों नाम रखकर लोग उसकी पूजा करते हैं। मनुष्य उसी को शिव विष्णु,महादेव नारायण, दुर्गा, लक्ष्मी, गणेश, इन्द्र, अग्नि, सरस्वती तथा अनेकों अवतार राम, कृष्ण, बुद्ध आदि की संज्ञा देकर उसकी आराधना करते हैं। किसी रूप में अथवा आकार में सही, पूजा होती है एक ईश्वर की ही।

इस विषय को भलीभाँति समझने से एक बहुत बड़ी गुत्थी सुलझ जाती है। लोग कहते हैं कहीं शिव को ईश्वर माना जाता है कहीं विष्णु को; कहीं इस पुराण को मान्य लिखा है, कहीं उसको। परन्तु समझने की आवश्यकता है कि शिव और विष्णु एक ही ईश्वर के दो नाम हैं और भिन्न-भिन्न पुराण भिन्न-भिन्न देवताओं के नाम से केवल ईश्वर का ही गुणगान कर रहे हैं।

उपासक अपनी इच्छा के अनुसार एक कल्पित वस्तु को ईश्वर मानकर उसकी उपासना कर रहा है और उसी का मनन कर रहा है। वह ईश्वर का आकार अपनी रुचि के अनुसार गढ़ता है। परन्तु वह इस प्रकार प्रतिमा की पूजा कदापि नहीं कर रहा है वरन उस ईश्वर की अर्चना कर रहा है जो उस प्रतिमा के

भीतर है अथवा वह प्रतिमा जिसकी केवल प्रतिनिधिमात्र है। स्त्री अपने पति से प्रेम करती है न कि उसके वस्त्रों से। ठीक इसी प्रकार उपासक का आशय ईश्वर से प्रेम करने का है न कि प्रतिमा से। जिस प्रकार वस्त्र पहनने वाले के कारण प्रिय हैं ठीक उसी प्रकार प्रतिमा भी ईश्वर के ही कारण सम्मान की वस्तु है। एक उपासक ईश्वर को प्रेम की मूर्ति समझ कर, दूसरा उसको सौन्दर्य का समूह मानकर और तीसरा उसको शक्तिपुञ्ज जानकर उसकी उपासना करता है। हम तुच्छ जीव ईश्वर की महत्ता को कहाँ तक समझ सकते हैं?

उपर्युक्त वर्णन को पढ़कर यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि मत-मतान्तरों के परस्पर कलह नितान्त हास्यास्पद हैं। सब एक ही ईश्वर की उपासना कर रहे हैं। भेद है केवल भिन्न-भिन्न नामों का जिनको उपासकों की भिन्न रुचि ने उत्पन्न किया है। इस भेद का कारण है उपासकों की रुचि-विभिन्नता न कि उपास्य देव ईश्वर की। भगवान् कहते हैं—

'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।'

...।

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥'

(गीता 12। 3, 4)

"जो अप्रत्यक्ष रूप, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, (सबके मूल में रहने वाले) अचल और ध्रुव तथा अक्षर (ब्रह्म) की उपासना करते हैं, वे सब प्राणियों के हित में प्रीति करने वाले मुझ निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।"

निव ध निचय

'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥'

(गीता १२ । ५, ६, ७)

'अव्यक्त में आसक्त चित्त वालों को अधिक क्लेश होते हैं क्योंकि देहधारी (व्यक्त) मनुष्यों को अव्यक्त उपासना की गति दुःख से प्राप्त होती है अर्थात् निर्गुण पद की प्राप्ति देहाभिमानी पुरुषों को कठिनता से होती है। परन्तु जो मुझमें सब कर्मों को समर्पण करके मुझको ही लयस्थान समझ अद्वैत बुद्धि से मेरे ही ध्यान में प्रवृत्त होकर मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, हे पार्थ! मुझमें चित्त लगाने वाले उन लोगों का इस मृत्युरूपी संसार सागर से मैं थोड़े ही कालमें उद्धार कर देता हूँ।"

प्रकाशित . कल्याण, अक्टूबर, १९३२

सत्संग और भगवान श्रीकृष्ण

सत्सङ्ग काल-यापन का सर्वोत्कृष्ट साधन है। सत्सङ्ग मे अपूर्व आनन्द, आन्तरिक आह्लाद और मनः शान्ति तो मिलती ही है, इसके अतिरिक्त अज्ञान तिमिर दूर होता है, विकार पास नही आने पाते, दुष्ट विचारों के उदय होने की सम्भावना कम रहती है, भाव शुद्ध हो जाते हैं, स्वास्थ्य बढ़ता है, चरित्र ऊँचा होता है और नम्रता आती है। सत्सङ्ग की महिमा अपार है। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं उद्धव से कहा है—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथा वरुन्धे सत्संगः सर्व संगापहो हि माम्॥

(श्रीमद्भा० ११।१२।१-२)

"सब सगों को छुड़ा देने वाला सत्संग जैसे मुझे वश में कर लेता है, वैसे अन्य यज्ञ, योग, तप, दान, धर्म, कर्म आदि साधन नहीं।" आगे चलकर भगवान ने उद्धव से यहाँ तक कहा है—"हे उद्धव! मुझे न तो योगी पाता है न दानी और न व्रत, तप, यज्ञ, दान, पाठ का करने वाला और न सन्यासी ही कोई मुझे पाता है। यदि पाता है तो सत्सङ्गी ही पाता है और सत्सङ्ग ही से मेरी भक्ति भी मिलती है।"

इस प्रकार सत्सङ्ग की महिमा अपार है, परन्तु सत्सङ्ग होना चाहिए सच्चा। सत ईश्वर का नाम है। जहाँ केवल ईश्वर-चर्चा

हो ईश्वर गुणगान हो, और ईश्वरीय गुणों का अनुसरण हो, वही सच्चा-सत्सङ्ग है, ऐसे सत्सङ्ग मे परम लाभ अवश्य होता है। सच्चे सत्सङ्ग के लिए सबसे पहिली आवश्यकता है सत्सङ्गियों मे परस्पर ऊँच-नीच का भाव उपस्थित न होने की। ऊँच-नीच का भाव सत्सङ्ग की जड में कुठाराघात करना है और उसके उत्तम फल को कभी परिपक्व नहीं होने देना। उसमें दम्भियों को अपना प्रभुत्व स्थापित करने का अवसर मिल जाता है और हीन-पद पर बैठे श्रोता-सत्सङ्गी के तर्क करने की शक्ति लोप हो जाती है। परिणाम यह होता है कि अन्धाधुन्धी चलती है, अनधिकारी जन केवल बड़ा माने जाने के कारण ही मिथ्या सिद्धान्तो का प्रचार करते है। भयभीत होने के कारण अन्य मनुष्य अपने को निम्न-श्रेणी में समझते हैं और चूँ तक नहीं करते। इस प्रकार मानसिक दौर्बल्य भले ही बढ़े, सत्सङ्ग कुछ नहीं होता और कल्पित बड़ों के सामने मौन रहने की प्रणाली ही चल पड़ती है जिससे बड़ा अनर्थ होता है। आप पूछ सकते है, बड़ों के सामने चुप रहने मे अनर्थ ही क्या है ? हम आपका यथेष्ट समाधान करने की चेष्टा करेंगे।

आजकल के सत्सङ्ग का चित्र प्रायः कुछ इसी प्रकार का हो गया है। एक महात्माजी (उन्हें चाहे महात्मा कहिये, साधु-सन्यासी, विरागी अथवा भक्त जी कहिए, बात एक ही है) बैठे हैं एक भद्र पुरुष से उनका वार्तालाप हो रहा है, आस-पास दस-पाँच अशिक्षित मनुष्य बैठे हैं जो समझते, गुनते कुछ नहीं, परन्तु हाँ में-हाँ जरूर मिलाते है। महात्मा अपने मन में इस बात से निश्चिन्त हैं कि कोई उन्हे टोकेगा या शंका करेगा। भद्र पुरुष ने बिना किसी दुर्भाव के, कोई शंका की अर्थात बात के असली रूप को

समझने की चेष्टा की । बस, महात्माजी बिगड़ उठे, प्रश्नकर्ता को 'भगवत्शत्रु' 'नास्तिक' इत्यादि की उपाधियों से विभूषित कर दिया। बताइये, महात्माजी परमेश्वर तो हैं नहीं फिर क्या कारण कि उनमे शंका की ही न जावे । इस प्रथा का दुष्परिणाम यह होता है कि अनेक सिद्धान्त अप्रतिपादित ही रह जाते हैं ।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि सत्सङ्गियों को सदैव सम-भाव से वार्तालाप करनी चाहिये ।

दूसरी बात जो सत्सङ्ग के लिए अत्यावश्यक है वह है सत्सङ्गियों में सहिष्णु भाव । आजकल सत्सङ्गियों में प्रायः असहिष्णुता बहुत दिखाई देती है । इस कारण वास्तविक सत्सङ्ग भी क्वचित ही दिखायी देता है । अल्पज्ञानी हठी लोगों के बड़े बनने का एक मात्र साधन है उनकी असहिष्णुता । इस श्रेणी के लोग जब यह देखते हैं कि सामने वाले मनुष्य के आगे उनकी एक नहीं चलती अथवा उनकी सम्पूर्ण विद्वत्ता समाप्त होती है तो उस मनुष्य के प्रति उग्ररूप धारण कर लेते हैं और उसके प्रति इच्छानुसार दुर्वचनों का प्रयोग करते हैं। उनके इस विकट रूप को देखकर दस-पाँच ओर पास बैठे मूढ़जन भी उनको ही सत्य समझते हैं। बस, शंका करने वाला शुद्ध हृदय भद्र पुरुष लाचार होकर अपने सम्मान के रक्षार्थ चुप हो जाता है। इस प्रकार सत्य का गला अनायास ही घुट जाता है । दम्भ की वास्तविकता पर विजय हो जाती है, शङ्काओं का समाधान किसी बात के तत्व पर पहुँचने के लिए नितान्त आवश्यक है ।

खेद के साथ लिखना पड़ता है, आजकल दम्भ की मात्रा प्रत्येक कार्य में बहुत बढ गई है । आजकल के सत्संगी भी प्रायः अधिकांश (सब नहीं) दम्भी हैं तथा स्वार्थ चिन्तन में रत रहते

है। विभूति रमा ली, गीता के दो-चार श्लोक रट लिये, उल्टा सीधा उनका अर्थ समझ लिया, रामायण की कुछ चौपाई अर्थ समेत कण्ठस्थ कर लीं और समझने लगे अपने को मुनि। मुनि भी कैसे भृगु मुनि! कम नहीं! जिन्होंने ठेठ भगवान के वक्षस्थल पर पद-प्रहार किया था। जरा ध्यान दीजिए। जब वे अपने को भृगुमुनि ही समझ बैठे है तो सद्गृहस्थियों को तो वे क्या समझेंगे? बस, आकर उनकी गुलामी कर दी, चरण स्पर्श किये, गोड़ दाबे, माल-पूवे खिलाये तब तो ठीक ठाक है अन्यथा पामर है। पापी है! कलियुग में धर्म उठ गया। भारतवर्ष में इसी प्रकार अनेक रीतियों से दास मानस की वृद्धि की गई है और लोग दासता की बेड़ियों में बेतरह जकड़े हुए है।

योगेश्वरेश्वर सर्वगुणाधार भगवान श्रीकृष्ण ने सत्संग करने योग्य अनेक सुलक्षणों युक्त साधुओं के लक्षण बतलाते हुए कहा है—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जित षड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥
आज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान्संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः॥
ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि यादृशः।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः॥

(श्रीमद्भा० ११।११।२९–३३)

'हे उद्धव ! मुझे इन तीस लक्षणों के साधु बड़े ही प्यारे है, यथा जो प्राणियों पर कृपा करें, किसी से द्रोह न करें, क्षमावान हो, सच्ची प्रतिज्ञा करें, निन्दा आदि दोषों से दूर रहें, सुख-दुःख दोनों में समान रहें, शक्ति भर सबका उपकार करें, विषयो से मन को चञ्चल न होने दें,इन्द्रियो को वश में रक्खें, चित्त कोमल बनाये रक्खें, सदाचारी रहें, दान न लें, सुख के लिए कर्म न करें, मिता-हार करें, सदा शान्त रहें, अपने धर्म में स्थिर रहें, मेरे आसरे रहे, मननशील रहें, सावधान रहें, निर्विकार रहें, दु:ख के समय भी धीरज रक्खें, भूख, प्यास, शोक, मोह, वार्द्धक्य और मृत्यु इन छः विकारो को जीत लें, मान रहित रहें, दूसरों का सम्मान करते रहें, दूसरो को उत्तम उपदेश दें, किसी को धोखा न दें, दया सहित दूसरे का उपकार करें, ज्ञानवान हों, वेदों में कहे मेरे धर्म का पालन करते रहे। बस, मुझे ऐसे ही आचरणों के साधु प्रिय है और ये पुरुष ही साधु कहाने योग्य हैं।"

सत्संग के लिए शुद्ध, शान्तिपूर्ण, स्वार्थ रहित, पवित्र वायु-मण्डल की आवश्यकता है जिससे कि सत्संगी आनन्दपूर्वक परस्पर भगवत्सम्बन्धी चर्चा कर सकें। परस्पर समभाव से सहिष्णुतापूर्वक वार्तालाप करने में अलौकिक आह्लाद प्राप्त होगा और बहुत-सी ग्रन्थियाँ सुलझ जावेंगी। हमारे विचार दृढ़ एवं निश्चित हो जायेंगे जिस विषय पर हम आपसमें सम्भाषण कर चुकेंगे उस पर हमारे हृदयों में स्वच्छ विचारधारा बहेगी।

सत्सङ्गियों में परस्पर मानापमान विचार घृण्य हैं, दम्भरहित प्रेमपूर्ण बर्ताव होने की अत्यावश्यकता है। तर्क और शङ्काओं का उत्पन्न होना स्वाभाविक है, इनके बिना तो विवाद में जीवन ही नहीं आ सकता। इनको शान्तिपूर्वक निवारण करके सच्चे सिद्धान्त निश्चित करने चाहिए इसी से सत्सङ्ग का फल प्राप्त होगा

साधुओ और सत्सङ्गियो दोनो को ही इस विषय पर ध्यान देकर आवश्यक सुधार करना चाहिए।

भगवान श्रीकृष्ण के अनुयायियों का दायित्व

भगवान् श्रीकृष्ण षोडश कलावतार के रूप में समस्त कलाओ और एतदर्थ सम्पूर्ण भारतीय सस्कृति के आदि स्रोत है। भगवान् के भक्तों ने अनेक ललित कलाओं की साधना द्वारा अपने इष्टदेव की आराधना की है। उपास्य देव की महिमा गाथा, कीर्तन एवं पूजन आदि के द्वारा अनेक कलाओं का विकास हुआ है और उसी से हमारी संस्कृति का निर्माण हुआ। भाषाओं के साहित्य और वाङ्मय में श्रीकृष्ण सम्बन्धी साहित्य सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वाङ्ग-पूर्ण है।

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त गीता ज्ञान संसार की अमर-ज्योति है। यह शाश्वत ज्ञान है तथा संसार के समस्त साहित्य एव इतिहास में अनुपमेय है। यही कारण है कि सभी अन्य धर्मावलम्बी विद्वज्जन भी इस सिद्धान्त को अटल एवं अकाट्य मानते है। वह ज्ञान यह है कि शरीर यद्यपि नश्वर एवं क्षणभंगुर है तथापि आत्मा अजर, अमर एवं अविनाशी है। मृत्यु भय से जनित नैराश्य एव कर्तव्यहीनता पर विजय पाने के लिए यह कितना अमोघ अस्त्र है? इस सिद्धान्त के बड़े दूरगामी प्रभाव हुए हैं। इसने मनुष्यों में जीवन के प्रति अनुराग उत्पन्न किया तथा परोपकार की वृत्ति को जन्म दिया। मनुष्य ने इससे यह तत्व ग्रहण किया कि उसे जीना है

तथा दूसरे को जीने देना है। इसी सिद्धान्त को कर्मयोग कहते हैं और इसका प्रतिपादन करने के कारण श्रीकृष्ण को कर्मयोगी कहा गया।

भगवान् ने प्रत्येक दिशा में अपनी अमिट छाप हमारे जीवन पर छोड़ी है। जब-जब लोगों में धर्म के प्रति ग्लानि होती है अथवा यों कहिये जब-जब वे कर्तव्य के प्रति अत्यन्त विमुख होते हैं तब-तब भगवान् अधर्म का नाश करने अथवा कर्तव्य विमुखता का अन्त करने के लिए जन्म लेते हैं। वे शुचिजनों का परित्राण करते और दुष्टों का नाश करते हैं। क्या हम नहीं देखते और क्या हमे इतिहास नही बतला रहा कि समय-समय पर हमारी अबाध कठिनाइयों को दूर करने, अत्याचार और उत्पीड़न का सामना करने, लोगों में सुख और शान्ति के साम्राज्य की स्थापना करने के लिए युगान्तरकारी पुरुषों का इस भूतल पर आविर्भाव होता आया है? श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् के वाक्य सनातन, निश्चल एव अटल हैं।

हम मथुरावासियों का भी जिनको भगवान् की जन्मस्थली में उत्पन्न होने का गौरव प्राप्त है, एक विशेष दायित्व है। लोग दूर-दूर से इस पुण्यभूमि का दर्शन करने और इसकी रज अपने मस्तक पर चढ़ाने आते है। वे यहाँ के निवासियों में कुछ विशेषता देखना चाहते है। यदि उन्हें अपेक्षित विशेषता के स्थान पर पतन के चिह्न लक्षित हो तो यह हमारे लिये बड़े लज्जा की बात है। हमें अपने को ऊँचा उठाना है। इस पुण्यमयी भूमिमें हमारा जन्म एक वरदान है, हमें उसे सार्थक करना है।

लिंग पुराण और भगवान शिव

लिङ्ग पुराण के शिव अविनाशी, परब्रह्म, निर्दोष, सर्वसृष्टि के स्वामी, निर्गुण, अलख, ईश्वरों के ईश्वर, सर्वश्रेष्ठ, विश्वम्भर और संहारकर्ता हैं। वे परब्रह्म, परतत्व, परमात्मा और पर ज्योति हैं। विष्णु और ब्रह्मा उनसे उत्पन्न हुए हैं। समस्त सृष्टि के आदि कारण सदाशिव ही हैं।

शिवजी की सर्वज्ञता, व्यापकता अथवा ईश्वरत्व को सिद्ध करने के लिए लिङ्ग पुराण के अन्तर्गत बीसियों मनोहर कथाएं है। विष्णु और ब्रह्मा पर शिव का आधिपत्य कितनी ही मनोरञ्जक कथाओं में सिद्ध किया गया है। शिव महत्व का विशद वर्णन करने के लिए उनमें से कुछ ललित कथाओ के आवश्यक अंशों का सूक्ष्मोल्लेख अनिवार्यतः आवश्यक एवं वाछनीय है।

एक बार ब्रह्माजी का समाधान करते हुए विष्णुजी ने कहा "हे ब्रह्माजी! आप ऐसा न कहें। महादेवजी जगत् के हेतु हैं और सब बीज इनके हैं। ये बीजवान् हैं। पुराण पुरुष परमेश्वर इन्हीं को कहते है। यह जगत इनका खिलौना है। बीजवान ये हैं, आप बीज हैं और हम योनि हैं।" विष्णुजी के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि शिव ही पूर्ण पुरुष हैं।

लिंग की उत्पत्ति

एक बार विष्णु और ब्रह्मा में इस विषय पर कि परमेश्वर कौन है, विवाद चल पड़ा। दोनों ही अलग-अलग अपने को ईश्वर सिद्ध कर रहे थे ब्रह्मा और विष्णु मे कलह हो ही रहा

था कि एक अति प्रकाशमान ज्योतिर्लिङ्ग उत्पन्न हुआ। उस लिङ्ग के प्रादुर्भाव को देखकर दोनों ने उसे अपनी कलह-निवृत्ति का साधन समझ यह निश्चय किया कि जो कोई इस लिङ्ग के अन्तिम भाग को स्पर्श करे वही परमेश्वर है। वह लिङ्ग नीचे और ऊपर दोनों ओर था। ब्रह्माजी तो हंस बनकर लिङ्ग का अग्रभाग ढूढ़ने को ऊपर उड़े और विष्णुजी ने अति विशाल एवं सुदृढ़ वराह बनकर लिङ्ग के नीचे की ओर प्रवेश किया। इसी भांति दोनों हजारों वर्ष तक चलते रहे। परन्तु लिङ्ग का अन्त न पाया। तब दोनों अति व्याकुल हो लौट आये और बार-बार उस परमेश्वर को प्रणाम कर उसकी माया से मोहित हो विचार करने लगे कि यह क्या है कि जिसका कहीं अन्त है न आदि। विचार करते-करते एक ओर प्लुत स्वर से 'ओ३म् ओ३म्' यह शब्द सुन पड़ा। शब्द का अनुसंधान करके लिङ्ग की दक्षिण ओर देखा तो ॐकार स्वरूप स्वयं शिव दीख पड़े। भगवान विष्णु ने शिव की स्तुति की। स्तुति को सुनकर महादेवजी प्रसन्न हो कहने लगे "हम तुम से प्रसन्न हैं, तुम भय छोड़कर हमारा दर्शन करो। तुम दोनों ही हमारी देह से उत्पन्न हुए हो। सब सृष्टि को उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा हमारे दक्षिण अङ्ग मे और विष्णु वाम अङ्ग से उत्पन्न हुए हैं। हम तुमसे प्रसन्न है, वर मांगो।"

विष्णु और ब्रह्मा ने शिवजी के चरणों में दृढ़ भक्ति माँगी।

पार्वती स्वयंवर

जिस समय हिमालय ने पार्वती स्वयम्बर किया था उस समय उनके निमंत्रण से अनेको देव, नाग, किन्नर आदि इकट्ठे हुए। शिव भी एक बालक के रूप में आये और पार्वती के उत्सव में

आकर बैठ गये। बालक के इस उद्धत व्यवहार को देख सब देव-गण क्रुद्ध हुए और एक-एक कर उस बालक पर प्रहार करने को अग्रसर हुए। परन्तु वह बालक कोई साधारण बालक न था, वह तो स्वयं सदाशिव थे। सदाशिव ने अपने ओज द्वारा देवताओं के अङ्गों को स्तम्भित और शस्त्रों को कुण्ठित कर दिया। देवताओं के इस पराभव को देखकर ब्रह्मा ने ध्यान पूर्वक विचार किया तो ज्ञात हुआ कि यह बालक स्वयं शिव है। तब तो वे महादेव जी के चरणों में लोट गये और इस प्रकार स्तुति की —

स्रष्टा त्वं सर्वलोकानां प्रकृतेश्च प्रवर्तकः।
बुद्धिस्त्वं सर्वलोकानामहंकारस्त्वमीश्वरः ॥१॥
भूतानामिन्द्रियाणाञ्च त्वमेवेश प्रवर्तकः।
तवाहं दक्षिणाद्धस्तात्सृष्टः पूर्वं पुरातनः ॥२॥
वामहस्तान्महाबाहो देवो नारायणः प्रभुः।
इयं च प्रकृतिर्देवी सदा ते सृष्टि कारणं ॥३॥
पत्नीरूपं समास्थाय जगत्कारणमागता।
नमस्तुभ्यं महादेव महादेव्यै नमोनमः ॥४॥
प्रसादात्तव देवेश नियोगाच्च मया प्रजाः।
देवाद्यास्तु इमाः सृष्टा मूढास्त्वद्योगमोहिताः ॥५॥
कुरु प्रसाद मेतेषां यथापूर्वं भवन्त्विमे।

(लिङ्ग पुराण पूर्वार्द्ध १०२वाँ अध्याय)

ब्रह्माजी की इस स्तुति से प्रसन्न होकर शिवजी ने कृपा करके देवताओं को पूर्ववत् पुष्ट कर दिया।

उपर्युक्त स्तुति से ज्ञात होता है कि भगवान शिव की ब्रह्मा जी ने पूर्णब्रह्म परमेश्वर के रूप में ही आराधना की है। उपर्युक्त श्लोकों में जिस पुरुष की वन्दना की गई है उससे श्रेष्ठतर एवं

उच्चतर कोई हो ही नहीं सकता। सर्वलोकों का स्रष्टा एवं प्रकृति का प्रवर्तक एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर ही हो सकता है।

शिव विवाह के समय विष्णु के प्रति ब्रह्माजी के निम्न-लिखित वाक्य उल्लेखनीय है।

"हे विष्णु, आप और भगवती पार्वती शिवजी के वाम अङ्ग से उत्पन्न हुए हैं। शिवजी की माया ही से भगवती हिमालय की कन्या हुई। सब जगत को, आप की और हमारी यह पार्वती माता हैं और शिवजी पिता है। शिवजी की मूर्तियों से ही जगत उत्पन्न हुआ है। भूमि, जल, अग्नि, आकाश, पवन, सूर्य, चन्द्र ये सब शिवजी की मूर्तियाँ है। यह पार्वती, शुक्ल, कृष्ण, लोहित वर्णों से युक्त अजा अर्थात् माया हैं और आप भी प्रकृति रूप हैं। अब हमारे और हिमालय के वचन से शिवजी के प्रति पार्वती जी को देना उचित है।"

इस पर परम शिवभक्त विष्णु भगवान ने उठकर शिवजी को प्रणाम किया और उनके चरणो को धोकर चरणोदक को अपने, ब्रह्माजी के और हिमालय के मस्तक पर छिड़का और पार्वती को शिवजी के अर्पण किया।

शरभावतार

लिङ्ग पुराण के ९६वें अध्याय मे शरभरूप शिव का नृसिंह रूप विष्णु को परास्त करने की कथा बड़ी विचित्र है।

हिरण्यकशिपु का वध करके विष्णुरूप नृसिंह भयकर गर्जना करने लगे। उनकी भयंकर गर्जना के घोर-शब्द से ब्रह्मलोक पर्यन्त सब लोक काँप उठे। सब सिद्ध, साध्य, ब्रह्मा, इन्द्र आदि

देवता भी अपने-अपने प्राण बचाने के लिए भयभीत हो भागे। वे लोकालोक पर्वत के शिखर पर से अति विनम्र भाव से नृसिहजी की स्तुति करने लगे। परन्तु नृसिहजी इस पर भी शान्त न हुए। तब तो वे देवता अपनी रक्षा के लिए मन्दराचल में शिवजी के समीप गये। देवताओं की दीन दशा देखकर शिवजी ने प्रसन्न वदन होकर कहा कि हम शीघ्र ही नृसिह रूप अग्नि को शान्त करेंगे।

देवताओं की स्तुति सुनकर नृसिह रूप तेज को शान्त करने के लिए महादेवजी ने भैरवरूप अपने अंश वीरभद्र का स्मरण किया। वीरभद्र उसी क्षण उपस्थित हुए। महादेव जी ने वीरभद्र से कहा—"वत्स ! इस समय देवताओं को बड़ा भय हो रहा है। इस कारण नृसिह रूप अग्नि को शीघ्र जाकर शान्त करो। पहले तो मीठे बचनों से समझाओ, यदि न समझें तो भैरव रूप दिखलाओ।"

शिवजी की यह आज्ञा पाकर शान्तरूप से वीरभद्र नृसिह के समीप जा उनको समझाने लगे। इस समय का वीरभद्र - विष्णु संवाद बड़ा मार्मिक है। इसमें भगवान विष्णु के ऊपर शिव का महत्व भली भांति प्रदर्शित होता है।

वीरभद्र ने कहा—'हे नृसिहजी ! आपने जगत के कल्याण के लिए अवतार लिया है और परमेश्वर ने भी जगत की रक्षा का अधिकार आपको दे रक्खा है। मत्स्य रूप धर आपने इस जगत की रक्षा की। कूर्म और वाराह रूप से पृथ्वी को धारण किया। इस नृसिह रूप से हिरण्यकश्यप का संहार किया। वामन रूप धर राजा बलि को बाँधा। इस प्रकार जब जब लोकों में दुःख उत्पन्न होता है तब तब आप अवतार लेकर सब दुःख दूर करते है। आप

सब जीवों के उत्पन्न करने वाले और प्रभु है। आपसे अधिक कोई शिवभक्त नही।"

वीरभद्र जी के शान्तिमय वचनों से नृसिह जी की क्रोधाग्नि शान्त न हुई। उन्होंने उत्तर दिया—'वीरभद्र ! तू जहाँ से आया है वही चला जा।' इस पर नृसिह जी से वीरभद्र का बहुत विवाद हुआ। अन्त में शिव-कृपा से वीरभद्र का अति दुर्धर्ष, आकाश तक व्याप्त, बड़ा विस्तृत एवं भयंकर रूप हो गया। उस समय शिवजी के उस भयङ्कर तेजस्वी स्वरूप में सब तेज विलीन हो गये। इस रूप का आधा शरीर मृग का और आधा शरभ पक्षी का था। शरभ रूप शिव अपनी पुच्छ में नृसिह को लपेट कर छाती में चोंच का प्रहार करते हुए जैसे सर्प को गरुड़ ले उड़े ऐसे ले उड़े। फिर तो नृसिह जी ने शिवजी से क्षमा याचना की और अति विनम्र भाव से स्तुति की।

सुदर्शन चक्र की कथा

एक बार शिवजी को प्रसन्न करने के हेतु विष्णु ने बड़ा उग्र तप किया। उस समय उन्होंने 'शिवसहस्रनाम स्तोत्र' के लिए शिवजी को अर्पित करने के अर्थ एक सहस्र कमल एकत्रित किये। शिवजी ने कौतुकवश एक कमल उन कमलों में से लुप्त कर दिया। जब सहस्र नाम का उच्चारण समाप्त करने को हुए तो विष्णु को ज्ञात हुआ कि एक कमल कम है। बस उन्होंने उसके स्थान पर अपना नेत्र निकाल कर शिवजी को समर्पित कर दिया और उनको उनके उन नेत्रों की जगह कमल सरीखे नेत्र प्रदान किये। तभी से विष्णु का नाम पुण्डरीकाक्ष पड़ा। सुदर्शन चक्र भी इसी समय शिवजी ने विष्णु को दिया।

इसी प्रकार और भी कई कथाएँ लिङ्ग पुराण में ऐसी हैं जिनमें देवताओं में श्रेष्ठ विष्णु और ब्रह्मा से शिव का उत्कर्ष दिखाया गया है।

वस्तुत: एकेश्वरवाद पर हिन्दू सिद्धान्त बहुत ही स्पष्ट है। लिङ्ग पुराण में जिस प्रकार शिव को परब्रह्म परमात्मा स्वरूप माना है, उसी प्रकार अन्य पुराणों ने विष्णु, देवी आदि को सर्व शक्तिमान माना है। परन्तु सर्वशक्तिमान, परब्रह्म, परमेश्वर स्वरूप है एक ही व्यक्ति। किसी भी पुराण में परमेश्वर की शक्ति का भागीदार नहीं मिलता। पूर्ण-पुरुष की ही भिन्न भिन्न नामों से उपासना की गई है। कहीं उसको विष्णु कहते हैं, कहीं ब्रह्मा, कहीं शिव और कहीं गणेश, जैसी जिसकी रुचि हुई, उपास्यदेव का नाम रख लिया और लगा उसका गुणगान करके अपना जन्म सफल करने।

हिन्दू विचारों का अद्भुत ऐक्य ही हिन्दू धर्म की महान् विशेषता है।

प्रकाशित : कल्याण श्री शिवांक
अगस्त, १९३३

धर्मों की एकता

प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डाक्टर भगवानदास ने 'श्रीदयानन्द-स्मृति-ग्रन्थ' में एक बृहत् निबन्ध लिखकर धर्मों की एकता पर बड़े महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। हिन्दी भाषी जनता के लाभार्थ उनका सारांश देना अनुपयुक्त न होगा।

डाक्टर साहब का मत है कि सब धर्मों में जागृति एक साथ हुई तथा जागरण करने वालों का आविर्भाव भी एक साथ ही हुआ। अपने-अपने धर्म की बुराइयाँ देखकर ही धर्माचार्यों का विचार उसमें आवश्यक सुधार करने का हुआ और यह विचार लगभग एक साथ ही प्रस्फुटित हुआ। भारतवर्ष में जिस समय मुसलमानों में सर सैयद अहमद हुए, ठीक उसी काल में हिन्दुओं में स्वामी दयानन्द हुए।

भारतवर्ष में अनेक संस्थाओं का जन्म हुआ। यह केवल इसलिए हुआ कि भारतवर्ष में हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृति का पुनर्जीवन हो। ब्राह्मसमाज, कादियानी, देवबन्द की अंजुमन-ए-इस्लामिया, पूने की सार्वजनिक सभा, फर्ग्यूसन कालेज, गणपति-पूजा-उत्सव, शिवाजी-जयन्ती, नागरी-प्रचारिणी सभा, स्वामी विवेकानन्द और रामकृष्ण का सेवासंघ और अन्त में हिन्दूसभा तथा मुस्लिम लीग की स्थापना हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के पुनर्निर्माण के हेतु हुई। और, दोनों संप्रदायों की संस्थाओं ने आवश्यक सुधार एवं जागृति तो उत्पन्न की परन्तु वे अपने-अपने क्षेत्र में पृथक्-पृथक् कार्य करती रहीं। इस पार्थक्य से बड़ी हानि हुई। पारस्परिक विद्वेषाग्नि

भड़क उठी। आर्यसमाजी वेद और संस्कृत की पवित्रता को ही मानते थे, बाकी सब को मिथ्या समझते थे। इसी प्रकार मुसलमान कुरान और अरबी जुबान को ही सत्य समझने लगे। परिणाम यह हुआ कि पारस्परिक कलह खूब बढ़ा। एक दूसरे के प्रति बड़ी कड़ी आलोचना और बुरे शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। खुदा को खुदी ने और ब्रह्म को माया ने घेर लिया।

दोनों जातियों के सुधारकों का मुख्य विचार था अपनी जाति की उन्नति करना। समान ध्येय होने पर भी वैयक्तिक ईर्षा द्वेष के कारण कलह उत्पन्न हुआ। यदि वे विज्ञान, बुद्धिवाद और समस्त राष्ट्र की एक भाषा के आधार पर कार्य करते तो भारत-वर्ष को साम्प्रदायिक कलह-रूपी हानि न उठानी पड़ती।

डाक्टर साहब की राय में जाति-विशेष की संस्थाओं ने किसी समय लाभ भले ही पहुँचाया हो, परन्तु आज यह स्पष्ट देखने में आ रहा है कि इस प्रकार की संस्थाएँ प्रतिस्पर्धा एवं वैर-भाव की वृद्धि कर रही हैं। पार्थक्य की खूब वृद्धि हो रही है। अनेक सभा-संस्थाएँ सामाजिक सभाएँ बन रही हैं। यही हाल शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं का है। हिन्दू और मुस्लिम विश्व-विद्यालयों का ही पार्थक्य नहीं है। कायस्थ पाठशाला, भूमिहार-कालेज, खालसा-कालेज, शिया-कालेज, आर्यसमाज के अनेक कालेज, सनातनधर्म के अनेक कालेज, अग्रवाल-स्कूल्स, क्षत्री-श्रीवास्तव-स्कूल्स, ऐंग्लो-बंगाली स्कूल, चौबे-स्कूल, राजपूत-होस्टल, क्षत्रिय-होस्टल, वैश्य-होस्टल, मराठी-पंजाबी-होस्टल आदि-आदि अनेक जातियों और उपजातियों के नाम पर शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं की सृष्टि की गई और इस प्रकार भेदभाव की जड़ जमती गई। इसी प्रकार

एक-एक जाति, उपजाति, वर्ग, उपवर्ग की अलहदा-अलहदा सभाएँ होती हैं।

डाक्टर साहब का मत है कि आधुनिक विषयों एवं सनातन-आर्य-मानव-वैदिक धर्म की शिक्षा द्वारा हिन्दुओं में बुद्धिगम्य एवं उदार विचारों के फैलाने की आवश्यकता है, और इस प्रकार अनेकानेक जातियों और उप-जातियों के भ्रमजाल में छिन्नभिन्न हुए हिन्दुओं को सगठित करना आवश्यक है।

इस 'पार्थक्य' का कारण डाक्कर साहब बड़े मनोरंजक शब्दों में चित्रत करते हैं—

"यह उस 'स्व' के वास्तविक अर्थ को भूलने के कारण है जिसको यदि हम ठीक तरह समझ लें, तो वह निस्संदेह वास्तविक धर्म, आध्यात्मिक पवित्रता एवं निस्वार्थ सत्य का स्रोत है। जब 'स्व' का अर्थ गलत लगाया जाता है तो वह सम्पूर्ण अपवित्रता, स्वार्थ और निरन्तर विवादपूर्ण जीवन का हेतु बन जाता है। 'स्व' का अर्थ है उच्चतम, व्यापक, नित्य, सत्य, शुद्ध आत्मा अर्थात् ब्रह्म। हम गलती से उसका अर्थ 'निज' अर्थात् अपना लगाते हैं जो कि निम्न, स्वार्थपूर्ण एवं मिथ्या विचार है। यदि भारतवर्ष को अपना उद्धार करना है और यदि महात्माओं की मनोकामना पूर्ण होनी है, तो भारत को 'आध्यात्मिक पवित्रता' का स्पष्ट अर्थ समझना होगा और उसको ऐसा बिना किन्हीं भाषाओं, शब्दों और ग्रन्थों (चाहे वे वेद, कुरान, बाइबिल, त्रिपिटक, आगम कोई क्यों न हों) के लिहाज के करना होगा। देखना यह होगा कि भलाई और बुद्धिमानी सभी धर्मों में एक समान है।"

अन्त में डाक्टर भगवानदास एकता के प्रश्न पर विचार करते हुए निम्नलिखित उपाय उसे प्राप्त करने के लिए बतलाते हैं–

(१) सब शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं में सब धर्मों की व्यापक एकता अथवा समानता का अध्ययन कराया जाना ।

(२) समाज-शास्त्र एवं सामाजिक विधान की प्राचीन विद्या का अध्ययन करना ।

(३) प्राचीन संस्कृति द्वारा आधुनिक समस्याओं का किस प्रकार हल होना सम्भव है, इस पर विशद रूप से विचार करना ।

डाक्टर भगवानदास का 'धर्मों की एकता' पर तात्विक विवेचन बहुत ही महत्वपूर्ण है । यदि हम इसमें गहरे घुसकर देखें, तो हमें साम्प्रदायिक कलह की जड का कहीं पता न चले ।

श्रीमद्भगवत्गीता का ऐतिहासिक महत्व

श्रीमद् भगवत्गीता भारतीय चिन्तन की उदात्तता की द्योतक है। गीता के वाक्य भारतीय दर्शन शास्त्र के परमोत्कृष्ट स्वरूप हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भारत की मानसिक निधियों का जो मूल्यांकन किया है। उसकी आधार शिला गीता को समझना चाहिये। यह एक तथ्य है कि गीता ने डूबती हुई आर्य जाति का त्राण किया है।

भारत में आर्यों की सभ्यता प्राचीनतम है। इतिहासवेत्ता भी अब इस बात को स्वीकार करते है कि यह सभ्यता हजारों वर्ष पुरानी है। तीन हजार वर्ष पहिले भी विश्व में तीन सभ्यताओं का इतिहासवेत्ताओं ने उल्लेख किया है। वे हैं रोम, चीनी और भारतीय। इन तीनों में भारतीय सभ्यता जिसको आर्यों की सभ्यता भी कहते है प्राचीनतम है। विद्वानों ने यह भी तर्कों द्वारा सिद्ध किया है कि भारतीय सभ्यता एक प्रकार से अन्य दोनो सभ्यताओं की भी जननी है। लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व आर्यो द्वारा रचित यज्ञो में की गई पशु हिंसा तथा कर्मकाण्ड की कठिनाइयों से देश में एक विचित्र प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। उपरोक्त दोनों से जनता ऊब उठी थी और मन:शान्ति तथा मोक्ष लाभ के लिये सुगम उपायों की खोज में थी। ऐसी परिस्थिति में ईसा से लगभग छ: सौ वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध का अवतार हुआ।

गौतम बुद्ध ने २८ वर्ष की अवस्था में गृह त्याग कर सन्यास ग्रहण किया कई वर्ष तक तपस्या करने के उपरान्त उन्हे आत्म

बोध प्राप्त हुआ। ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त उन्होंने सोचा कि अर्जित ज्ञान का उपयोग जन-कल्याण के लिए होना श्रेष्ठ है। अतः उन्होंने उपदेश देना आरम्भ किया और उनके जीवनकाल में ही न केवल विरक्तों ने वरन् अनेकों राजाओं और गणराज्यों के सरदारों ने बौद्ध धर्म अङ्गीकार कर लिया। शनै-शनै बौद्धधर्म न केवल भारत वरन् अन्य देशों में भी व्याप्त होगया। कुछ शताब्दी बाद सम्राट अशोक के राज्य काल में बौद्धधर्म का अधिक प्रचार हुआ। अशोक के बाद और भी मौर्यवंशी भारत सम्राट हुए परन्तु उनके शासनकाल में अशोककालीन राज्य-शक्ति का अभाव था। निरन्तर धर्मचर्चा में रत और अहिंसा का पाठ पढ़ते पढ़ते ये राजा लोग निर्बल होगये थे। राज्यकोष भी मठों, बिहारों और संघारामों की व्यवस्था के व्यय में रिक्त हो चुका था। सरकारी धन का उपयोग सेना पर न होकर मठों और भिक्षुओं की सुख सुविधाओं पर किया जाता था। उस काल में यवनों और शकों के निरन्तर आक्रमण हुए। आक्रान्ताओं ने भारतीय जनता पर बड़े अत्याचार किये। परिणाम यह हुआ कि प्रजा उस धर्म की जिसके कारण उसकी दुर्गति हो रही थी भर्त्सना करने लगी। उसे गीता का कर्मयोग और आत्मा की अमरता वाले सिद्धान्त अधिक रुचिकर प्रतीत हुए। अहिंसा के सिद्धान्तो को प्रतिपादन करते रहने की अपेक्षा रणक्षेत्र में शत्रु के प्राण हनन की नीति जनता के हित मे थी।

ईसा से दो शताब्दी पूर्व भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास और शुङ्ग-सातवाहन वंश के राजाओं द्वारा भागवत धर्म का प्रचार आरम्भ हो गया था। शुङ्गवंशीय राजाओं ने उत्तरभारत में और सातवाहन वंशीय सम्राटों ने दक्षिण भारत में अनेकों मन्दिर बनवा

कर भगवान् कृष्ण की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की। गीता के गायक कृष्ण की उपासना करके राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किये और यवनों और शकों में वह मार दी कि वे परास्त होकर देश छोड़ गये। लाखों शक और हूण जो रह गये थे उन्होंने भगवान् कृष्ण की आराधना आरम्भ करदी और हिन्दू हो गये। विदेशी आक्रान्ताओं को मार भगाने की क्षमता भारतीय राजाओं को गीता ने प्रदान की। ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व से ही हिन्दू राजाओं ने गीता ज्ञान से स्फूर्ति प्राप्त की और देश को आततायी आक्रान्ताओं के त्रास से मुक्त किया।

वास्तव में गीतामृत पान करके हिन्दू जाति ने अपना अस्तित्व स्थिर रक्खा और गीता ने हमारी संस्कृति और सभ्यताओं को अमरता प्रदान की है।

श्री रामकथा का ऐतिहासिक महत्व

किसी देश के उन्हीं महापुरुषों को महानता प्राप्त होती है जिन्होंने अपने देशवासियों को न केवल अनेक संकटों से वचाया अपितु उनके लिये विजयश्री प्राप्त करके उनके गौरव को भी वढ़ाया। प्रत्येक देश के इतिहास में ऐसे पुरुष विरले होते हैं और कभी-कभी तो एक ऐतिहासिक महापुरुष और उसके उत्तराधिकारी के वीच शताव्दियों का अन्तर होता है। हमारे बहुत से भाई जिनका ज्ञान विद्यालयों में पढ़ाई गई इतिहास की पुस्तकों तक ही सीमित है यह कहने लगते हैं कि श्रीराम और श्रीकृष्ण तो जनमन के आराध्यदेव परमेश्वर स्वरूप हैं, ऐतिहासिक महापुरुष नहीं। पाश्चात्य एवं पौर्वात्य अनेक पुरातत्ववेत्ताओं ने अपनी अद्‌भुत तर्क शैली एवं शोध के आधार पर निश्चित कर दिया है कि श्रीराम और श्रीकृष्ण इष्टदेव हैं, परमेश्वर स्वरूप हैं वह तो ठीक परन्तु तत्सम्वन्धी ऐतिहासिक तथ्य भी निस्सन्देह हैं। वास्तव में वेद, पुराण और दोनों महाकाव्य (रामायण और महाभारत) में इतना तारतम्य है और अनुसन्धानों के परिणाम स्वरूप अवशेषों आदि के रूप में इतनी प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है कि इन आर्ष ग्रन्थों की प्रामाणिकता में तनिक भी सन्देह की गुन्जाइश नहीं; हाँ, यह तो सर्वविदित है कि इनमें प्रक्षिप्त अंश बहुत है जिसका समावेश घटनाओं के सहस्रों वर्ष बाद तक हुआ है। यह भी निर्विवाद है कि जहाँ प्रक्षिप्त अंश का अस्तित्व है वहाँ महाभारत के पूर्व और बाद के काल का इतिहास घोर अन्धकार के गर्त में है। अस्तु।